

बस्तर में नल वंश का राजनीतिक इतिहास तथा धार्मिक व सांस्कृतिक आस्थागत प्रवाह

चंद्र प्रकाश यादव * शोधार्थी, इतिहास विभाग, डॉक्टर सी.वी. रमन विश्वविद्यालय कोटा, बिलासपुर

डॉक्टर महेश कुमार शुक्ल ** प्राध्यापक, इतिहास विभाग, डॉक्टर सी.वी. रमन विश्वविद्यालय कोटा,
बिलासपुर (छ.ग.)

सारांश

यह शोधपत्र बस्तर अंचल में नल वंश के राजनीतिक इतिहास तथा धार्मिक एवं सांस्कृतिक आस्थागत प्रवाह का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है। चौथी से छठी शताब्दी के मध्य नल शासकों ने दक्षिण कोशल क्षेत्र विशेषतः बस्तर में एक सशक्त और स्वतंत्र सत्ता स्थापित की जिसके प्रमाण शिलालेखों, मुद्रा-सामग्रियों एवं पुरातात्विक अवशेषों के माध्यम से प्राप्त होते हैं। इस वंश के प्रमुख शासकों, वीर पुरुष नल, भूतनंदिन तथा स्कंदवर्मन ने प्रशासनिक सुव्यवस्था के साथ-साथ शैव धर्म की संस्थागत परंपराओं को सुदृढ़ किया। उन्होंने मंदिर निर्माण, तीर्थ केंद्रों के संरक्षण तथा शैव-धार्मिक संस्कारों को प्रोत्साहन देकर क्षेत्र में धार्मिक सांस्कृतिक चेतना का विस्तार किया। बस्तर की जनजातीय परंपराओं और नल शासन की ब्राह्मणवादी सांस्कृतिक संरचना के मध्य जो अंतःप्रवाही संवाद उत्पन्न हुआ उसने क्षेत्रीय धार्मिक आस्था को एक विशिष्ट स्वरूप प्रदान किया। यह अध्ययन प्राचीन अभिलेखों, साहित्यिक स्रोतों और पुरातात्विक साक्ष्यों के आलोक में बस्तर में नल वंश की ऐतिहासिक उपस्थिति तथा धार्मिक-सांस्कृतिक योगदान को पुनः स्थापित करने का प्रयास करता है।

प्रस्तावना

भारत के प्राचीन इतिहास में नल वंश का उदय एक अत्यंत महत्वपूर्ण घटना है, विशेषकर मध्यभारत और बस्तर क्षेत्र के राजनीतिक विकास के संदर्भ में। इस वंश का उद्भव एक ऐसे समय में हुआ जब संपूर्ण उत्तर

भारत राजनीतिक अस्थिरता और शक्ति के शून्य की स्थिति से गुजर रहा था। मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद शुंग और कण्व वंशों ने थोड़े समय के लिए सत्ता संभाली। इसके उपरान्त कुषाणों का प्रभुत्व स्थापित हुआ जो लगभग 250 वर्षों तक भारतीय उपमहाद्वीप में प्रभावशाली शक्ति बने रहे। किंतु प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व के उत्तरार्द्ध में कुषाण शक्ति के पतन के साथ ही भारत में एक गंभीर राजनीतिक शून्यता उत्पन्न हो गई। इस समय पूरे देश में अनेक छोटे-छोटे राज्य उभर कर सामने आए जो अपने-अपने क्षेत्र में प्रभुत्व स्थापित करने के लिए संघर्षरत थे। उत्तर-पश्चिम भारत में यौधेय, अर्जुनाय और मालव जैसे गणराज्य शक्तिशाली होकर उभरे, वहीं गंगा के मैदानी क्षेत्रों में अहिच्छत्र, अयोध्या, कौशांबी और नाग वंश जैसे राजतंत्र प्रकट हुए। यही वह समय था जब नल वंश का उदय हुआ। इस पृष्ठभूमि में नलों का प्रकट होना केवल एक क्षेत्रीय शक्ति के उदय का संकेत नहीं था बल्कि यह मध्यभारत में एक स्थायी राजनीतिक व्यवस्था की ओर बढ़ता हुआ कदम था।

दक्षिण कोशल में नल वंश का राजनीतिक इतिहास

तीसरी शताब्दी ईस्वी के प्रारंभ से ही विन्ध्य पर्वत के पार स्थित क्षेत्र गंभीर राजनीतिक अस्थिरता के दौर से गुजर रहा था। इसका उत्तर-पश्चिमी भाग जो कभी सातवाहन साम्राज्य का केन्द्र था वाकाटक वंश के अधीन चला गया जबकि उत्तरी सीमांत क्षेत्र जो पहले कुषाणों के अधीन था नाग वंश के नियंत्रण में आ गया। मध्य क्षेत्र जहाँ कभी सातवाहन और कुषाणों की मिली-जुली सत्ता थी और दक्षिण-पूर्वी हिस्सा जो दूसरी शताब्दी के अंत तक चेदी वंश के अधीन था वहाँ पूर्ण राजनीतिक अराजकता व्याप्त थी। इसी राजनीतिक शून्यता के बीच तीसरी शताब्दी के उत्तरार्ध में वर्तमान कोरापुट, कालाहांडी और बस्तर क्षेत्र में नल वंश का उदय हुआ। मध्य ट्रांस-विन्ध्य क्षेत्र जिसे दक्षिण कोशल का प्रमुख भाग माना जाता है उसी काल में मेघ वंश और सूर वंश ने भी अपनी उपस्थिति दर्ज कराई।

दक्षिण कोशल, जिसे विभिन्न ग्रंथों में कोशल, दक्षिण कोशल और महाकोशल जैसे नामों से जाना गया है, अत्यंत प्राचीन और गौरवशाली भूमि रही है। पुराणों में इसे 'विन्ध्यप्रदेशनिवासिनः' कहा गया है जिससे स्पष्ट होता है कि यह क्षेत्र विन्ध्य क्षेत्र के पार और आसपास विस्तृत था। कुछ पुराणों में 'पांच कोशल' का उल्लेख

मिलता है जो इस बात का संकेत है कि यह कोई एकीकृत भूभाग न होकर विभिन्न भागों में विभाजित विशाल क्षेत्र था। इतिहास में एक ही काल में दक्षिण कोशल में अनेक वंशों के शासन का उल्लेख मिलता है, जैसे, सूर वंश, नल वंश और मेघ वंश। इससे यह स्पष्ट होता है कि यह क्षेत्र विभिन्न 'कोशल खंडों' या उपक्षेत्रों में बंटा हुआ था जिन्हें मिलाकर इसे 'महाकोशल' की संज्ञा दी गई।

ऐतिहासिक साक्ष्यों से स्पष्ट होता है कि मौर्य काल में यह क्षेत्र शायद उनके प्रत्यक्ष नियंत्रण में नहीं था। बाद में विभिन्न उपक्षेत्रों पर अलग-अलग राजवंशों का प्रभुत्व स्थापित हुआ। तीसरी शताब्दी ईस्वी से मेघ, सूर और नल वंशों ने इस क्षेत्र के विभिन्न भागों में शासन किया। नल वंश का केंद्र विशेषकर दक्षिण कोशल के दक्षिण-पूर्व भाग में स्थित था, जिसमें वर्तमान बस्तर क्षेत्र भी शामिल था। नल वंश ने बस्तर, कोरापुट और कालाहांडी क्षेत्रों में राजनीतिक स्थायित्व और सांस्कृतिक पहचान स्थापित की। इन शासकों ने न केवल प्रशासनिक ढांचा विकसित किया बल्कि क्षेत्रीय समृद्धि को भी बढ़ावा दिया। इस प्रकार स्पष्ट है कि बस्तर क्षेत्र का नल वंश दक्षिण कोशल की ऐतिहासिक विरासत का महत्वपूर्ण हिस्सा था। राजनीतिक अराजकता के समय में इस वंश ने क्षेत्रीय एकता और स्थायित्व प्रदान किया। उनकी सत्ता न केवल प्रशासनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण थी बल्कि इसने बस्तर को सांस्कृतिक रूप से भी समृद्ध बनाया।

नल वंश काल में धार्मिक तथा सांस्कृतिक प्रवाह

नल काल में धार्मिक गतिविधियों का उत्कर्ष हुआ। इस समय शिववाद, वैष्णववाद और शक्तिवाद अपने विभिन्न रूपों में समृद्ध हुए जिससे यह युग सांस्कृतिक उत्कर्ष का स्वर्ण युग बन गया। इसका प्रमाण हमें अभिलेखों, साहित्यिक कृतियों और पुरातात्विक खोजों से मिलता है। लगभग चौथी शताब्दी ईस्वी से लेकर दसवीं शताब्दी ईस्वी तक नलों ने दक्षिण कोशल के पारंपरिक क्षेत्रों में एक विशाल साम्राज्य पर शासन किया। इस क्षेत्र के उपलब्ध स्रोतों के गहन अध्ययन से हमें तत्कालीन धार्मिक केन्द्रों, विचारों और प्रथाओं की झलक मिलती है। नलों के राज्य क्षेत्र में कई प्रसिद्ध तीर्थ स्थल विकसित हुए जिन्होंने उस समय के लोगों के धार्मिक जीवन को गहराई से प्रभावित किया। नल शासक धर्म को गहन श्रद्धा से मानते थे और

उनका विश्वास था कि उनकी महानता धर्म के प्रचार और संरक्षण में निहित है। यह महान विचार उनके अभिलेखों में भी स्पष्ट रूप से प्रतिबिंबित होता है:

“धर्मस्य मूलं च यशो वदन्ति तस्मात् तदुपार्जनियम्।”

इस प्रकार नल काल धार्मिक सहिष्णुता और सांस्कृतिक समृद्धि का एक महत्वपूर्ण दौर था।

शैवधर्म का विकास और आस्था का प्रवाह

दक्षिण कोसल में नल वंश के शासनकाल को शैवधर्म के उभार और संस्थागत विकास का एक महत्वपूर्ण काल माना जाता है। प्रारंभिक नल शासकों, जैसे भवदत्तिवर्मन और अर्थपति ने शिव और स्कन्द कार्तिकेय की उपासना को राजकीय संरक्षण प्रदान किया। इन शासकों ने स्वयं को महेश्वर, महासेन, रुद्र और भव का उपासक बताया है जिससे यह स्पष्ट होता है कि शैवधर्म उस समय के राजनीतिक और सांस्कृतिक ताने-बाने में गहराई से जुड़ा हुआ था। इस क्षेत्र को प्रारंभ से ही रुद्र की उपासना का केंद्र माना गया है जहाँ 'गणप' शब्द का प्रयोग रुद्र से संबंधित गणों के प्रमुखों के लिए होता था। शैव और गाणपत्य पंथों के अनेक मूर्तिकला प्रमाण जैसे बैद्यनाथ, त्रिशूल टीला, रालपुर और बागागड़ा से प्राप्त होते हैं जो इस धार्मिक धारा के उभार की पुष्टि करते हैं। यहाँ की मूर्तियाँ, जैसे उमा-महेश्वर, नटराज, एकमुखी लिंग और योगेश्वर शिव उस काल की धार्मिक संवेदना को मूर्त रूप देती हैं।

नल वंश के शासक केवल धार्मिक संरक्षक नहीं थे बल्कि वे स्वयं शैव और गाणपत्य परंपराओं के अनुयायी थे। विष्णुध्वज की मुद्रा और बेलगढ़ी से प्राप्त ताम्रपत्रों में महेश्वर और महासेन की उपासना का उल्लेख मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि राजसत्ता और धार्मिक शक्ति का घनिष्ठ संबंध था और मंदिरों तथा मठों को राज्य से दान और संरक्षण प्राप्त होता था। नल वंश के पश्चात दक्षिण कोसल में शैवधर्म की दूसरी लहर श्रिस्तंभ जैसे शासकों के अधीन दिखाई देती है जहाँ तांत्रिक और शक्तिवादी परंपराओं का समन्वय हुआ। बेलखंडी, रानीपुर-झरियाल, मरगुड़ा और राजिम जैसे स्थलों पर निर्मित मंदिर और मूर्तियाँ इस सांस्कृतिक

संक्रमण की गवाही देती हैं। इस काल में शैव धर्म केवल लिंग-पूजा तक सीमित न रहकर तांत्रिक और शक्तिसाधना से भी जुड़ गया।

नल वंश की धार्मिक नीति में उदारता दिखाई देती है, हालाँकि कुछ शासक वैष्णव परंपरा से भी जुड़े रहे जैसे कि नृसिंह उपासक भीमसेनदेव परंतु उन्होंने शैवधर्म का विरोध नहीं किया। इसके विपरीत वे शक्ति और शिव दोनों की उपासना को समान रूप से मान्यता देते रहे। त्रिशूल विहार संभवतः दक्षिण कोसल का प्राचीनतम शैव मठिय संस्थान रहा होगा जो शैवधर्म के शिक्षण और अनुशासन का केंद्र बना। यहाँ की मूर्तिकला, स्थापत्य और पुरालेख इस क्षेत्र में शैवधर्म की सांस्कृतिक जड़ों की पुष्टि करते हैं। मूर्तियों की विशिष्ट शैली और धार्मिक प्रतीक इस बात की ओर संकेत करते हैं कि नल वंश के शासनकाल में शैवधर्म केवल आध्यात्मिक परंपरा नहीं बल्कि एक संगठित धार्मिक संरचना के रूप में स्थापित हो चुका था। इस प्रकार नल वंश का काल दक्षिण कोसल में शैवधर्म के संगठन, संरक्षण और प्रसार का स्वर्णिम युग माना जा सकता है जिसने न केवल धार्मिक जीवन को बल्कि कलात्मक, सांस्कृतिक और राजनीतिक चेतना को भी गहराई से प्रभावित किया।

वैष्णव धर्म का विकास और आस्था का प्रवाह

नल राज्य में वैष्णव धर्म का महत्वपूर्ण विकास हुआ विशेषतः बस्तर और महाकोशल क्षेत्र में। स्कंदवर्मन (480–515 ई.) के शासनकाल में विष्णु उपासना को राजकीय संरक्षण प्राप्त हुआ। पोड़ागुड़ा शिलालेख से ज्ञात होता है कि उन्होंने विष्णु के 'पदमूल' की स्थापना की और चक्रद्रोण को पूजा हेतु भूमि दान दी जिससे यह स्थल एक वैष्णव मठ (विहार) के रूप में विकसित हुआ होगा। यह दान तपस्वियों, गरीबों और असहायों के लिए अन्न-व्यवस्था हेतु था। पोड़ागुड़ा के निकट जंगलों में पाए गए विष्णु पदचिह्न को लेकर विद्वानों का मत है कि यह एक पूज्य प्रतीक था जो सम्भवतः वामन अवतार की स्मृति से जुड़ा था। बस्तर के इस स्थल पर ईंटों, प्रस्तर खंभों और मंदिर-रेखाओं के अवशेष मिले हैं। एक प्रस्तर हनुमान प्रतिमा भी वहाँ प्राप्त हुई जिससे यह स्पष्ट होता है कि राम-हनुमान पूजा भी प्रचलित थी। 1944 में केसरिबेड़ा में जी. रामदास द्वारा की गई खुदाई में विष्णु की एक सुंदर षड्भुज प्रतिमा प्राप्त हुई जो शंख, चक्र, गदा और तलवार जैसे

चिह्नों से युक्त थी। यह मूर्ति नल युगीन वैष्णव मूर्तिकला की समृद्धता का प्रमाण है। स्कंदवर्मन के बड़े भाई अर्धपतिराज शैव उपासक थे परंतु विष्णु और वासुदेव उपासना का प्रभाव नल राज्य में समानांतर रूप से बढ़ा।

बस्तर व महाकोशल में वैष्णव परंपरा की दूसरी लहर पृथ्वीराज (585–625 ई.) से लेकर विलासतुंग (660–700 ई.) तक की शासकीय अवधि में आई। इस काल में राजिम के राजीव लोचन मंदिर जैसे केंद्र उभरे जहाँ विष्णु, उनके अवतारों और लक्ष्मी की मूर्तियाँ स्थापित हुईं। विष्णु की 'राजीव लोचन' उपाधि और वराह, वामन, नृसिंह जैसे अवतारों का मूर्तिशिल्प इस दौर की अवतार-उपासना को दर्शाता है। राजिम, सैताल्लि, साउंटपुर और पटनागढ़ जैसे स्थलों से प्राप्त विष्णु, त्रिविक्रम और लक्ष्मी प्रतिमाएँ इस क्षेत्र में वैष्णव धर्म की लोकप्रियता और विविधता को प्रकट करती हैं। इन मंदिरों और मूर्तियों से यह स्पष्ट होता है कि विष्णु, नारायण और वासुदेव संप्रदायों का संगठित समन्वय यहाँ हुआ था। इस क्षेत्र में शिव, विष्णु, अर्द्धनारीश्वर, मातृका और हरिहर जैसी मिश्रित उपासना परंपराएँ भी विकसित हुईं जो आगे चलकर समन्वयवादी जगन्नाथ परंपरा की भूमिका निर्मित करती हैं। नल युग में बस्तर और महाकोशल क्षेत्र एक सशक्त वैष्णव-धार्मिक केंद्र बनकर उभरे।

शक्तिपूजा का विकास और आस्था का प्रवाह

नल वंश के धार्मिक परिदृश्य में शाक्त परंपरा का योगदान उल्लेखनीय है यद्यपि अभिलेखीय प्रमाण अपेक्षाकृत कम हैं। फिर भी इस क्षेत्र में देवी प्रतिमाओं और शक्तिपीठों की व्यापक उपस्थिति यह दर्शाती है कि शक्ति-पूजा एक लोकप्रिय और प्रभावशाली पंथ थी। नल शासक जो संभवतः स्थानीय जनजातीय मूल के थे, प्रारंभ से ही प्रकृति और स्त्री शक्ति की उपासना करते रहे होंगे। मरगुंडा घाटी का त्रिशूल टीला, शाक्त परंपरा का एक प्राचीन केंद्र रहा है। यहाँ ईंट निर्मित मंदिर के अवशेष, वर्गाकार गर्भगृह और शक्तिपीठ के साथ पाए गए हैं। गर्भगृह में स्थापित बिना लिंग वाला पीठ शक्ति की प्रतीकात्मक उपासना का उदाहरण है। मंदिर के मंडप में स्त्री देवी प्रतिमाएँ हैं जो दुर्गा या उनकी भिन्न रूपों की प्रतीक हो सकती हैं। पास की एक अन्य पहाड़ी पर माहेश्वरी भवदायी नामक देवी की मूर्ति मिली है जो संभवतः नल शासक भवदत्तवर्मन की

इष्टदेवी थीं। इन मूर्तियों की मुद्रा, लिपि और स्थापत्य शैली पाँचवीं शताब्दी के आसपास की मानी जाती है। आलिङ्ग मुद्रा में खड़ी देवी, शेर वाहन और ब्राह्मी लिपि में उत्कीर्ण अभिलेख इस काल की शाक्त मूर्तिकला की परिपक्वता का संकेत देते हैं। साथ ही लौह यूपस्तंभ और बलिपद्धति से जुड़ी संरचनाएँ शाक्त पंथ में तांत्रिक प्रभाव के प्रवेश को रेखांकित करती हैं।

शक्तिपीठों में पुरुष और प्रकृति (शिव-शक्ति) की समन्वित पूजा भी इस काल में विकसित हो चुकी थी। खुदाई में प्राप्त विविध स्त्री देवमूर्तियाँ संभवतः योगिनी संप्रदाय की प्रारंभिक रूप थीं जो आगे चलकर विकसित तांत्रिक परंपराओं का हिस्सा बनीं। दुर्गा के साथ-साथ स्थानीय जनजातीय देवी स्तंभेश्वरी की उपासना भी इसी समकालीन धार्मिक प्रवाह का हिस्सा रही होगी। नल युग में बस्तर और महाकोशल क्षेत्र एक समृद्ध शाक्त धार्मिक संस्कृति का केंद्र बनकर उभरा जहाँ शक्ति की उपासना स्थानीय परंपराओं से जुड़कर एक गहरे सांस्कृतिक ताने-बाने का निर्माण करती थी। यह परंपरा आज भी इस क्षेत्र की सांस्कृतिक पहचान में विद्यमान है।

नल वंश कालखंड में धार्मिक समन्वय और बहुस्तरीय आस्था प्रणाली

नल वंश के शासकों की धार्मिक प्रवृत्तियाँ केवल प्रमुख देवताओं तक सीमित नहीं थीं बल्कि उन्होंने विविध गौण देवताओं की भी उपासना की। उनके अभिलेखों में विभिन्न लघु देवताओं का उल्लेख इस बात का प्रमाण है कि बस्तर और महाकोशल अंचल में धार्मिक जीवन अत्यंत बहुआयामी और समन्वित था। यह विविधता उस धार्मिक दृष्टिकोण की ओर संकेत करती है जिसमें समाज के विभिन्न वर्गों की आस्थाओं को सम्मान दिया जाता था। सूर्य की उपासना इस वंश की धार्मिक नीति का एक केंद्रीय तत्व रही। अधिकांश राजकीय दानों में सूर्य को साक्षी के रूप में आमंत्रित किया गया है। राजिम अभिलेख में सूर्य के तेजस्वी स्वरूप का स्तवन करते हुए कहा गया है—

“जयति प्रतिष्ठित महीभूतांग शिरोनिहित निज पदः, नित्योदित प्रतापः पूर्णादित्यः”

जो यह दर्शाता है कि सूर्य न केवल प्रकृति की दिव्यता का प्रतीक थे बल्कि धर्मशील और न्यायपूर्ण शासन व्यवस्था के भी आदर्श माने जाते थे। इसी तरह ऋतापुर अभिलेख में राजा भवदत्तवर्मा द्वारा सृष्टिकर्ता प्रजापति ब्रह्मा की पूजा का उल्लेख मिलता है जो वैदिक आस्था की निरंतरता का संकेत करता है। साथ ही चंद्र और तारा जैसे खगोलीय देवताओं का उल्लेख इस बात की ओर इंगित करता है कि स्थानीय जनमानस में आकाशीय शक्तियों के प्रति भी गहन श्रद्धा थी। नल कालीन बस्तर और महाकोशल क्षेत्र में धार्मिक संलयन की स्पष्ट झलक मिलती है। अर्धनारीश्वर (शिव-पार्वती का समन्वित रूप) और हरिहर (विष्णु-शिव का संयुक्त स्वरूप) जैसे संलयन रूपों की पूजा समाज में शैव और वैष्णव धाराओं के बीच संतुलन की दिशा में एक प्रयास के रूप में देखी जा सकती है। एच.सी. दास के अनुसार ऐसे संयुक्त स्वरूपों की उत्पत्ति इन दोनों पंथों के समांतर विकास की परिणति थी जो इस भूभाग में सहअस्तित्व और धार्मिक सहिष्णुता के गहरे सामाजिक ताने-बाने को दर्शाता है।

दक्षिण कोशल की सीमा में स्थित हरिशंकर, वैद्यनाथ और सौतपुर जैसे धार्मिक केंद्रों में प्राप्त मूर्तिशिल्प इस समन्वयकारी परंपरा का ठोस पुरातात्विक प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि नल वंश के शासकों ने अपने शासनकाल में धार्मिक विविधता को न केवल स्वीकारा बल्कि उसे सक्रिय रूप से संरक्षण भी प्रदान किया। यह नीति उन्हें एक समरस और उदार शासक के रूप में प्रतिष्ठित करती है। नल वंशीय अभिलेखों में केवल देवताओं की स्तुति नहीं बल्कि धार्मिक-दार्शनिक अवधारणाओं का भी समावेश मिलता है। स्वर्ग और नरक की स्पष्ट धारणा उस समय के सामाजिक-धार्मिक जीवन की दिशा को रेखांकित करती है। पुण्य और पाप की यह द्वैत अवधारणा प्रजा के व्यवहार और शासकों की नीतियों को प्रभावित करती थी। एक अभिलेखीय श्लोक इस विश्वास को स्पष्ट करता है—

"पुष्टि व्रतसहस्राणि स्वर्गे नन्दति भूमिदः। अक्षेप्ता चानुमन्ता च तस्यैव नरके वसतिः।"

इसमें भूमिदान को सर्वोत्तम धार्मिक कर्म बताया गया है जबकि इसका विरोध करने वाले को नरकगामी कहा गया है। यह श्लोक नल शासकों के दानव्रती स्वभाव और धर्मशास्त्र सम्मत आचरण का परिचायक है। नल शासकों द्वारा प्रयाग और पुष्कर जैसे पवित्र स्थलों में भूमि दान की परंपरा भी इस बात का संकेत देती है कि

वे केवल स्थानीय परंपराओं तक सीमित नहीं थे बल्कि उन्होंने अखिल भारतीय धार्मिक धारा से भी स्वयं को जोड़ा। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि बस्तर और महाकोशल क्षेत्र नल युग में धार्मिक समन्वय, आध्यात्मिक चेतना और सांस्कृतिक एकात्मता का जीवंत केंद्र रहा।

उपसंहार

लगभग चौथी से पाँचवीं शताब्दी ईस्वी के बीच दक्षिण कोशल विशेष रूप से वर्तमान छत्तीसगढ़ के बस्तर और महाकोशल क्षेत्र में नल वंश एक प्रभावशाली राजवंश के रूप में उभरा। इस कालखंड में न केवल एक सुदृढ़ और संगठित राजनीतिक व्यवस्था की नींव रखी गई बल्कि धार्मिक विविधता, कलात्मक नवाचार और स्थापत्य सृजन के क्षेत्र में भी उल्लेखनीय प्रगति देखने को मिलती है। नल नरेशों ने इस क्षेत्र को सांस्कृतिक चेतना का केंद्र बनाने में निर्णायक भूमिका निभाई। नल शासक स्कंदवर्मन और अर्थपति जैसे राजाओं ने अपने शासनकाल में जिस प्रकार के प्रशासनिक ढांचे की स्थापना की, वह एक सुव्यवस्थित राज्य प्रणाली का संकेत देता है। उनकी राजधानी पुष्करी, जिसकी पहचान आज के पोडागड़ा क्षेत्र से की जाती है, एक नियोजित नगर के रूप में विकसित थी। यहाँ प्राप्त पुरातात्विक अवशेष दुर्गों की रचना, जल संरचनाएं, नगर सड़कें और आवासीय व्यवस्थाएं सुस्पष्ट रूप से यह प्रमाणित करती हैं कि यह एक सशक्त और संगठित शाही केंद्र था।

राजनीतिक दृष्टि से यह काल अनेक सत्ता संघर्षों से भी परिपूर्ण रहा। विशेष रूप से वाकाटक वंश के साथ टकराव और पुष्करी जैसे नगर का विध्वंस इस बात का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं कि नल वंश को सत्ता की रक्षा हेतु निरंतर संघर्षरत रहना पड़ा। इसके बावजूद उन्होंने सांस्कृतिक निरंतरता और धार्मिक कलाओं को नष्ट नहीं होने दिया बल्कि उन्हें और अधिक संरक्षण प्रदान किया। धार्मिक दृष्टिकोण से नल वंश का काल एक बहुधर्मी सहिष्णुता और समन्वय का उदाहरण है। बस्तर के पोडागड़ा क्षेत्र में पाए गए शिव मंदिर, मूर्तियाँ और देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ इस तथ्य की पुष्टि करती हैं कि शैव धर्म को राज्याश्रय प्राप्त था। शिव-पार्वती, वृषभ, गणेश तथा अन्य शैव प्रतिमाओं में एक ओर जहाँ धार्मिक आस्था झलकती है वहीं दूसरी ओर स्थानीय कलाशैली की जीवंत अभिव्यक्ति भी दृष्टिगोचर होती है। केसरिबेड़ा में प्राप्त विष्णु प्रतिमा इस

बात का प्रमाण है कि वैष्णव परंपरा भी समान रूप से प्रतिष्ठित और समादृत थी। इन स्थलों से यह स्पष्ट होता है कि नल शासक किसी एक पंथ विशेष तक सीमित न रहकर सभी प्रमुख धर्मों के समन्वय को बढ़ावा देते थे। इसके अतिरिक्त बस्तर क्षेत्र में सती स्तंभों की उपस्थिति उस समय की सामाजिक अवधारणाओं जैसे वीरता, बलिदान और स्त्री सम्मान की सांस्कृतिक छवि को भी सामने लाती है।

नल काल की कला और स्थापत्य में धर्म और स्थानीय सौंदर्यबोध का गहरा समन्वय दिखाई देता है। यहाँ के मंदिरों में गुप्त शैली की छाया होने के बावजूद स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार विविध प्रयोग देखने को मिलते हैं। गर्भगृह और मण्डप युक्त शैव मंदिर, ईंट और टेराकोटा का प्रयोग, छतों पर लकड़ी के बीम और टाइलों की छतें उस समय की तकनीकी दक्षता और रचनात्मक प्रयोगशीलता का प्रतीक हैं। मिट्टी की टेराकोटा मूर्तियाँ, जैसे घोड़े, पशु प्रतीक, देवी-देवताओं के चित्रण, सामग्री की सादगी में निहित शिल्पकला की पराकाष्ठा को उजागर करते हैं। नल वंश का शासनकाल बस्तर और महाकोशल में न केवल राजनीतिक स्थिरता का काल था बल्कि एक ऐसे सांस्कृतिक पुनर्जागरण का युग था जिसमें धर्म, कला और समाज का परस्पर संबंध स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। यहाँ धर्म केवल उपासना का माध्यम नहीं बल्कि सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवहारों और शासन नीतियों का भी आधार बना। शासकों की कलाप्रियता, स्थापत्य संरक्षण नीतियाँ और धार्मिक समन्वय की भावना ने एक ऐसी बहुआयामी विरासत को जन्म दिया जो आज भी पोडागड़ा, केसरिबेड़ा और उमारकोट जैसे स्थलों में जीवंत रूप से विद्यमान है।

इस प्रकार नल वंश का इतिहास बस्तर और महाकोशल क्षेत्र के लिए एक सांस्कृतिक पहचान का स्तंभ है। यह इतिहास न केवल एक राजनीतिक शौर्यगाथा है बल्कि एक ऐसे बहुधर्मी, बहुआयामी समाज की झलक भी देता है जो आज के छत्तीसगढ़ की सांस्कृतिक परंपराओं की नींव में अंकित है।

संदर्भ सूची :

1. दास, के. (एड।) (2017) दंडकारण्य में सांस्कृतिक विरासत, इतिहास और इतिहास: खंड II नई दिल्ली: मनोहर पब्लिशर्स।

2. पटेल सी. बी. (1985) नालों का राजवंश इतिहास। नई दिल्ली: रामानंद विद्या भवन।
3. त्रिपाठी, एस. (1997) उड़ीसा के शिलालेख: वॉल्यूम I (प्रारंभिक शिलालेख) नई दिल्ली: प्रकाशन विभाग, भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण।
4. खुटे, डी. एन. (2020) बस्तर के नलवंश की एक ऐतिहासिक समीक्षा। मन और समाज, 8 (1) 17-25।
5. क्ला, एच. एल. (1992) बस्तर के लोगों का इतिहास। नई दिल्ली: शारदा पब्लिशिंग हाउस।
6. रेवरम, बी। (1839) विक्रमविलास, रतनपुर।
7. रेवरम, बी। (2014) तवारीख श्री हैहयवमसा राजाओं की। रतनपुर (स्वतंत्र)।
8. लाला जगदलपुरी बल्लार-इतिहास और संस्कृति, मध्य प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल 1994 पृष्ठ-135.8।
9. लाला जगदलपुरी, "बस्तर, इतिहास और संस्कृति, मध्य प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल 1994" पृ. 1339.
10. साव गणपत लाल बिलासपुरी, ब्लडी हिस्ट्री ऑफ़ बस्तर-1983 पृष्ठ-74.10.
11. शुक्ला, हीरालाल। बस्तर-1995 का मुक्ति संग्राम, पृष्ठ-53.11।
12. गुप्त प्यारे लाल, प्राचीन छत्तीसगढ़, पृष्ठ 318।
13. साव गणपत लाल बिलासपुरी बस्तर का रक्तंजित इतिहास-1983 पृष्ठ-76.13। 14. द हिंदूज, वॉल्यूम-11, पेज-154।
14. लाला जगदलपुरी बस्तर इतिहास और संस्कृति, मध्य प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल 1994 पृष्ठ-135।
15. एन्यू पीएस। छत्तीसगढ़-1922 (नागपुर) के सुबा प्रावधानों पर एक रिपोर्ट पृष्ठ-6,716।
16. जेनकिंस आर. नागपुर के राजा के प्रादेशिक क्षेत्र पर रिपोर्ट, 1827 (नागपुर) 17.
17. शुक्ला, हीरालाल: बस्तर का मुक्ति संग्राम-1774 से 1910, पृष्ठ 112-118।
18. रसेल, R.V., इंपीरियल गजेटियर ऑफ़ इंडिया, दिल्ली (पुनर्मुद्रण 1975) 19.

19. लाल जगदलपुरी: बस्तर इतिहास और संस्कृति, मध्य प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल 1994, पृष्ठ-13520।
20. इंपीरियल गजेटियर ऑफ इंडिया, पृष्ठ-450.21।
21. ग्रिगसन: द मारिया गोडस ऑफ बस्तर-1991, पृष्ठ-8 (प्रस्तावना) 22.
22. डी ब्रेट: छत्तीसगढ़ सामंती राज्य राजपत्र-1909, पृष्ठ-3923।
23. शुक्ला, हीरालाल: छत्तीसगढ़ का जनजातीय इतिहास, पृष्ठ-11124।
24. इंपीरियल गजेटियर ऑफ इंडिया, पृष्ठ-450.25। 26. डी ब्रेट: छत्तीसगढ़ सामंती राज्य राजपत्र-1909, पृष्ठ-3926।
25. ग्रिगसन बस्तर-1991 के मारिया देवता, पृष्ठ-8 (प्रस्तावना) 27.
26. लाला जगदलपुरी, "बस्तर, इतिहास और संस्कृति, मध्य प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल 1994 पृष्ठ 133-13628।
27. ठाकुर, पंडित केदारनाथ, बस्तर भूषण-1408। पृष्ठ-14229.
28. ग्रिगसन बस्तर-1991 की मारिया गोंडस, पृष्ठ-9, फुटनोट, पैरा-1 31. टाइलर, एडवर्ड बी (1871) आदिम संस्कृति: मिथोलॉजी, दर्शन, धर्म, कला और प्रथा के विकास में शोध, लंदन: जॉन मूर, वॉल्यूम II
29. शुक्ला, सुरेशचंद्र, छत्तीसगढ़ की रियासतों का विलय, शिक्षादूत पुस्तकालय प्रकाशन, रायपुर, 2003, पृष्ठ 2453।
30. झा, कृष्ण कुमार, काकतीय युगिन बस्तर, शोध प्रबंध, पं. रविशंकर शुक्ला विश्वविद्यालय, रायपुर, 19834.
31. कमलेश, संतराम, छत्तीसगढ़ की भौगोलिक समीक्षा, वसुंधरा प्रकाशन, गोरखपुर, 2002, पृष्ठ 295।
35. D. ब्रेट, E.A., छत्तीसगढ़ सामंती राज्य राजपत्रक, 1909 पृष्ठ 346.
32. लाला जगदलपुरी, "बस्तर, इतिहास और संस्कृति, मध्य प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल 1994" पृष्ठ 6